सेवा-निष्ठा

व्याख्याता :
अनन्त स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

27 वें

आराधन महोत्सव के उपलक्ष्य में

त्वदीय वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पयेत।

ॐॐॐ

आचार्य स्वामीश्री श्रवणानन्द सरस्वती जी
के सौजन्य से
आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेन्टर
आनन्द वृन्दावन, वृन्दावन
द्वारा
वितरणार्थ प्रकाशित

सेवा–निष्ठा

यात्रा वहींसे प्रारम्भ होती है जहाँ मनुष्य रह रहा होता है। इसी प्रकार साधनाका उपक्रम भी वहीं से होता है जहाँ साधककी स्थिति होती है। यदि अपनी स्थितिसे उच्चकोटिकी साधना की जाये तो उसमें स्थिरता आना कठिन होता है, बार–बार गिर पड़ते हैं। इसकी अपेक्षा तो यदि नीचेके स्तरसे साधनाका आरम्भ हो तो शीघ्र ही उन्नति–प्रगतिका अनुभव होने लगता है। अतः अपनी स्थितिके अनुसार साधनामें प्रवृत्त होनेसे अनायास सफलताके दर्शन होने लगते हैं।

हम कहाँ रह रहे हैं, इसका पता अपने आपको चलना कठिन होता है। इसका कारण यह है कि

मनुष्य अपने व्यवहारमें कुछ आसक्ति, कपट या दम्भ अवश्य रखता है। इनका अभ्यास संस्कार इतना गाढ़ हो जाता है कि वह स्वयंको वैसा ही समझने लगता है। इससे अपने बारेमें निरीक्षण, परीक्षण अथवा समीक्षण करने की योग्यता क्षीण हो जाती है। जिस सूक्ष्म–दृष्टिसे वह दूसरोंको देख पाता है वैसी दृष्टि अपने आप पर नहीं डाल पाता। जैसे अपने नेत्रोंकी पुतली अपनी आँखसे नहीं दिखती वैसे ही अपने गुण–दोष भी मनुष्यको नहीं दीखते, क्योंकि अपना आत्मा उनसे एक हो गया है। जो दूसरेके बारेमें गुप्त–से–गुप्त बातका अनुमान लगा लेता है वह अपने बारेमें गहरे पानीमें ही डूबा रहता है। अतः आत्मनिरीक्षणके लिए किसी सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न सत्पुरुषकी आवश्यकता होती है।

हमारी त्रुटियोंको बतानेके लिए अन्तर्दर्शी– सत्पुरुषकी आवश्यकता है। उसकी हित भावना पर विश्वास होना भी आवश्यक है। जिसके जीवनमें अपने किसी हितैषीपर पूरा विश्वास नहीं हो उस संशयालुको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। उसका अहंकार कितना बड़ा है और वह कितना असहाय है इस बातको वह समझ नहीं पाता। अपने लक्ष्यके प्रति भी वह आस्थावान् नहीं है, क्योंकि अपने लक्ष्यवेधके प्रति यदि उत्साह और तत्परता होती तो वह झूठा अहंकार छोड़कर अपनी त्रुटियोंको समझने, मानने और दूर करनेके लिए प्रयत्नशील हो जाता। वस्तुतः वह अपनी नासमझीको ही बड़ी समझदारी मानकर सत्यसे विमुख हो रहा है।

क्या अपनी जीवनचर्यासे और प्रगतिसे सन्तुष्ट हैं ? क्या आपने समग्र जीवनके लिए निष्ठापूर्वक इसी स्थितिको वरण कर लिया है ? यदि नहीं, तो आपको उस स्थितिका बोध प्राप्त करना चाहिए जहाँ पहुँचना है। अज्ञात मार्गसे अज्ञात लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए अज्ञानमें रहकर कैसे अग्रसर हुआ जा सकता है? अनमिला साजन और अनजाना मार्ग, आप कैसे पहुँच पायेंगे ? आपको एक अनुभवी सुहृद् पथ प्रदर्शकको अपेक्षा है। क्या आप भीतर ही भीतर इस अपेक्षाका अनुभव करते हैं ? क्या आपके हृदयमें इसकी पिपासा है?

अपने हितैषीके प्रति जो श्रद्धा, विश्वास अथवा सेवा है, वह उसका उपकार करनेके लिए नहीं है। मैं अपनी सेवाके द्वारा उसको उपकृत करता हूँ या

सुख पहुँचाता हूँ, यह भावना भी अपने अहंकारको ही आभूषण पहनाती है। विश्वास या श्रद्धा दूसरेको अलंकृत करनेके लिए नहीं होती, अपने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए होती है। सेवा जिसकी की जाती है, उसकी तो हानि भी हो सकती है, लाभ उसको होता है जो सद्भावसे सेवा करता है। अतएव सेवा करते समय यह नहीं देखना चाहिए कि हम किसकी सेवा कर रहे हैं, भाव यह होना चाहिए कि सेवाके द्वारा हम अपना स्वभाव अच्छा बना रहे हैं अर्थात् अपने स्वभाववश आलस्य, प्रमाद अकर्मण्यता आदि दोषोंको दूर कर रहे हैं। यह सेवा हमारे लिए गंगाजलके समान निर्मल एवं उज्ज्वल बनानेवाली है वस्तुतः सेवाका फल कोई स्वर्गादि की प्राप्ति नहीं है और न धन–धान्यकी।

सेवा स्वयंमें सर्वोत्तम फल है। जीवनका ऐसा निर्माण जो अपनेमें रहे, सेवा ही है। सेवा केवल उपाय नहीं है, स्वयं उपेय भी है। उपेय माने प्राप्तव्य। यदि आपकी निष्ठा सेवामें हो गयी तो कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा। जिनके मनमें सेवाका कोई फल नहीं मिला ऐसी कल्पना उठती है, वे सेवाका रहस्य नहीं जानते। उनकी दृष्टि अपने प्राप्त जीवन, शक्ति एवं प्रज्ञाके सदुपयोग पर नहीं है, किसी आगन्तुक पदार्थ पर है। सेवा कभी अधिक भी नहीं हो सकती। क्योंकि जब अपना सम्पूर्ण प्राण सेवामें समा नहीं गया, तबतक यह पूर्ण ही नहीं हुई, अधिकताका तो प्रश्न क्या है? सच कहा जाय तो सेवा ही जीवनका साधन है और वही साध्य भी है।

विश्वको सेवाकी जितनी आवश्यकता है, उसकी तुलनामें हमारी सेवा कितनी छोटी है। यदि विश्वकी सेवाके लिए क्षीरसागरके समान सेवाभावकी आवश्यकता है तो हमारी सेवा एक सीकरके बराबर भी नहीं है। सेवकके प्राण अपनी सेवाकी अल्पता देख–देखकर व्याकुल होते हैं और उसकी वृद्धिके लिए अनवरत प्रयत्नशील रहते हैं। जिसको अपनी सेवासे आत्मतुष्टि हो जाती है, वह सेवारसका पिपासु नहीं है। पिपासा अनन्त–रसमें मग्न हुए बिना शान्त नहीं हो सकती ! वह रस ही सेवकका सत्य है। सेवा इसी सत्यसे एक कर देती है।

जबतक सेवाके लिए किसी उद्दीपनकी अपेक्षा रहती है तबतक सेवा नैमित्तिक है, नैसर्गिक नहीं।

वह दूर रहकर हो सकती है और जो भी सम्मुख हो, उसीकी हो सकती है। जैसे सूर्यका प्रकाश, चन्द्रमाका आह्लाद, उनकी सहज स्फूर्ति है वैसे ही सेवा आत्माका सहज उल्लास है। आलम्बन चाहे कोई भी हो उसमें परमतत्त्वका ही दर्शन होता है।आलम्बन बनानेमें अपने पूर्व संस्कार या पूर्वग्रह काम करते हैं, परन्तु सब आलम्बनोंमें एक तत्त्वका दर्शन करनेसे शुभ ग्रह एवं अशुभ–ग्रह दोनोंसे प्राप्त इष्ट–अनिष्टकी निवृत्ति हो जाती है और सब नामरूपोंमें अपने इष्टका ही दर्शन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि सेवा न केवल चित्त शुद्धिका साधन है, प्रत्युत शुद्ध वस्तुका अनुभव भी है। अतः सेवा कोई पराधीनता नहीं है, यह स्वातन्त्र्यका एक विलक्षण प्रकाश है, दिव्य–ज्योति है।

आप जो पाना चाहते हैं या जैसा जीवन बनाना चाहते हैं उसे आज ही पा लेनेमें या वैसा बना लेनेमें क्या आपत्ति है ? अपने जिस भावी जीवनका मनोराज्य करते हैं वैसा अभी बन जाइये। उस जीवनको प्राप्त करनेके लिए अभ्यासकी पराधीनता क्यों अङ्गीकार करते हैं ? आप जैसा जो कुछ होना चाहते हैं अभी हो जाइये। अपने जीवनको भविष्यके गर्भमें फेंक देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं। क्या आप सेवापरायण होना चाहते हैं ? तो हो जाइये ना ! आपका जीवन क्या अपनेसे दूर है ? क्या उसके प्राप्त हो जानेमें कोई देर है ? फिर दुविधा क्यों है? सच्ची बात यह है कि आपके जीवनमें कोई ऐसी वस्तु घुस आयी है, आपके अन्तर्देशमें किसी वस्तु या व्यक्तिकी आसक्तिने ऐसा प्रवेश कर लिया है कि

आप उसका परित्याग करनेमें हिचकिचाते हैं। इसीसे जैसा होना चाहते हैं वैसा हो नहीं पाते। आप मनके निर्माणके चक्रव्यूहमें मत फँसिये, शरीरको ही वैसा बना लीजिये। मन भी वस्तुतः एक शारीरिक विकार ही है। शरीर अपने अभीष्ट स्थानपर जब बैठ जाता है तो मन भी अपनी उछल–कूद बन्द कर देता है। पहले मन ठीक नहीं होता, मनको ठीक किया जाता है।

आप जो सेवाकार्य कर रहे हैं वह आपकी साधना है। सम्पूर्ण जीवनको उसीमें परिनिष्ठित करना है। अतः साध्य स्थितिको बारम्बार अनुभवका विषय बनाना ही साध्यमें स्थित होना है।

आपकी सेवाका प्रेरक–स्रोत क्या है ? किसी मनोरथकी पूर्तिके लिए सेवा करते हैं ? क्या

अहंकारके शृङ्गारकी आकांक्षा है ? क्या सेवाके द्वारा किसीको वशमें करना चाहते हैं ? तो सुन लीजिये, यह सेवा नहीं है, स्वार्थका ताण्डवनृत्य है। अपनी सेवाको पवित्र रखनेके लिए सूक्ष्म दृष्टिकी आवश्यकता होती है।

आपकी सेवामें किसीसे स्पर्धा है ? आप किसीकी सेवासे अपनी सेवाकी तुलना करते हैं ? दूसरेको पीछे करके स्वयं आगे बढ़ना चाहते हैं ? किसी दूसरेकी सेवा देखकर आपके मनमें जलन होती है ? क्या आप ऐसा सोचते हैं कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरी सेवामें बाधा पड़ती है ? स्पष्ट है कि आप सेवाके मर्मस्पर्शी अन्तरङ्ग रूपको नहीं देख पाते। सेवा चित्तको सरल निर्मल एवं उज्ज्वल बनाती है। उसमें अनुरोध ही अनुरोध है, किसीका

विरोध या अवरोध नहीं है।

श्रद्धासे संपृक्त सेवाका नाम ही धर्म है। स्नेह युक्त सेवा वात्सल्य है। मैत्री–प्रणव सेवा ही सख्य है। मधुर सेवा ही शृङ्गार है। प्रेम–सेवा ही अमृत है। सेवा संयोगमें रस–सृष्टि करती है और वियोगमें हित–वृष्टि करती है। सेवा वह दृष्टि है जो पाषाण–खण्ड को ईश्वर बना दे, मिट्टीके एक कणको हीरा कर दे। सेवा मृतको भी अमर कर देती है। इसका कारण क्या है ? सेवामें अहंकार मिट जाता है, ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

सेवा निष्ठाकी परिपक्वताके लिए उसका विषय एक होना आवश्यक है। वह भले ही माँ हो, पिता हो, पति हो, गुरु हो या इष्ट हो। सबमें एक ईश्वर हो। एकको सेवा अचल हो जाती है और कोई भी

वस्तु अपनी अचल स्थितिमें ब्रह्मसे पृथक् नहीं होती। चल ही दृश्य होता है, अचल नहीं। अचल अदृश्य और ज्ञात होकर ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न हो जाता है। अतः किसी भी साधनामें निष्ठाका परिपाक ही परम सिद्धि है। यदि सेवाका विषय अन्य रूपसे स्फुरित होगा, तो उपासनाका विषय ईश्वर होगा। यदि सेवाकी वृत्ति परिपक्व दशामें शान्त हो जायेगी तो आत्मासे अतिरिक्त नहीं दीखेगी। यही कारण है कि सेवाका आश्रय और विषय एक हो जाता है और सेवक–सेव्यमें भेद नहीं रहता। यदि विचारकी उच्च कक्षामें बैठकर देखा जाये तो निस्सन्देह अद्वैत स्थिति और अद्वैतवस्तुका बोध हो जायेगा। अन्तर्वाणी स्वयं महावाक्य बनकर प्रतिध्वनित होने लगेगी। अतः साधनाका प्रारंभ

सेवासे होकर सेवाकी अनन्यता, अनन्तता एवं अद्वितीयतामें ही परि–समाप्त हो जाता है।

सेवाके प्रारम्भमें स्व–सुखकी वासना रहती है। अपने इष्टकी सेवा करके, सुख पहुँचाकर सेवक सुखी होता है । इससे एक लाभ तो यह होता है कि शनैः शनैः सुखी होनेके निमित्तों और उपादानोंसे निवृत्ति होने लगती है। केवल अपने इष्टके सुखसे ही सुखी होनेका स्वभाव बन जाता है और अन्यकी ओरसे निवृत्ति हो जाती है। यह स्वार्थ होनेपर भी निवृत्तिका साधन है, इसलिए प्रारम्भिक दशामें इसको दोष नहीं कहा जा सकता। 'तत्सुख–सुखित्व'–यह प्रेमका प्रथम लक्षण है। जिस हृदयमें अपने इष्टको देखना है, रखना है, उसमें प्रियताका, सुखका परिप्रेक्ष्य होना भी आवश्यक है। अपने

इष्टके सुखके लिए ही अपने हृदयमें सौरभ, माधुर्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य और सौस्वर्यके साथ–ही–साथ हित भावकी भूमिका आना अपेक्षित है। जो हृदय इष्टकी मुस्कान देखकर मुस्कुराता नहीं, उसका प्रेम प्रकाशमयी चितवनके साथ प्रफुल्लित नहीं हो जाता, उसमें निष्ठा देवी पदार्पण नहीं करती। परन्तु यह रसास्वादन एक प्रकारका स्वार्थ ही है। सेवा कोटि–कोटि दुःखको वरण करके भी अपने स्वामीको सुख पहुँचाती है। व्यजन करनेवाला स्वयं प्रस्वेदसे स्नान करके भी अपने इष्टको व्यजनकी शीतल मन्द सुगन्ध वायुसे तर करता है। यही सेवा 'मैं' के अर्न्देशमें विराजमान आत्माको इष्टके अन्तर्देशमें विराजमान परमात्मासे एक कर देती है।

सेवामें इष्ट तो एक होता ही है, सेवक भी एक ही होता है। वह सब सेवकोंसे एक होकर अनेक रूप धारण करके अपने स्वामीकी सेवा कर रहा है। अनेक सेवकोंको अपना स्वरूप देखता हुआ, सेवाके सब रूपोंको भी अपना ही रूप देखता है। अपने इष्टके लिए सुगन्ध, रस, रूप, स्पर्श और संगीत बनकर वह स्वयं ही उपस्थित होता है। सेवकका अनन्य स्वामी होता है और स्वामीका अनन्य–भोग्य सेवक। सभी गोपियोंको राधारानी अपना ही स्वरूप समझती हैं और सभी विषयोंके रूपमें वही कृष्णको सुखी करती हैं। भिन्न दृष्टि होनेपर ईर्ष्याका प्रवेश हो जाता है और सेवामें ईर्ष्या विष है और सरलता अमृत।

सेवामें समाधि लगना विघ्न है। किसी देश–विशेषमें या काल–विशेषमें विशेष रहनीके द्वारा

सेवा करनेकी कल्पना वर्तमान सेवाको शिथिल बना देती है। सेवामें अपने सेव्यसे बड़ा ईश्वर भी नहीं होता और सेवासे बड़ी ईश्वराराधना भी नहीं होती। भक्त पुण्डरीककी कथाके द्वारा यही रहस्य स्पष्ट किया गया है। स्वयं रसास्वादन करनेसे भी स्वामीको सुख पहुँचानेमें बाधा पड़ती है। किसी भी कारणसे किसीके प्रति भी चित्तमें कटुता आनेपर सेवा भी कटु हो जाती है; क्योंकि सेवा शरीरका धर्म नहीं है, रसमय हृदयका मधुमय नित्य नूतन उल्लास है। सेवा भाव है, क्रिया नहीं है। भाव मधुर रहनेपर ही सेवा मधुर होती है। इस बातसे कोई सम्बन्ध नहीं कि वह कटुता किसके प्रति है। किसीके प्रति भी हो, रहती तो हृदयमें ही है। वह कटुता अंग–प्रत्यंगको अपने रंगसे रँग देती है, रोम–रोमको

कषाय–युक्त कर देती है। अतः अविश्रान्त रूपसे अपने अन्तरका नितान्त शान्त रहकर रोम–रोमसे रस का विस्तार करना ही सेवा है। अपना स्वामी सब है और हमारा सब कुछ उसकी सेवा है।

स्वामीकी सत्ता ही सेवककी सत्ता है। सेवकका अस्तित्व पृथक् नहीं होता। अस्तित्व पृथक् होते ही एक नया मैं उत्पन्न हो जाता है और वह सेवा–रसको अपनी ओर समेटने लगता है। ऐसी स्थितिमें सेवाका रूप संकीर्ण हो जाता है, नित्य निरन्तर उदीर्ण नहीं रहता। सतत उदीर्ण न रहनेपर वह स्वामीको अविरत रूपसे सुख भी नहीं दे सकता। स्वामीका ज्ञान ही सेवकका ज्ञान है। जहाँ ज्ञानमें भिन्नता आयेगी वहाँ मतभेद होनेकी संभावना बनी रहेगी और बुद्धि अहंके पक्षमें आबद्ध हो जायेगी। निश्चय ही मतभेदमें

वैमनस्यका बीज निहित रहता है। वह आज या कल अंकुरित होगा और सेवाको कुण्ठित कर देगा। स्वामीका सुख ही सेवकका सुख है, उसका अपना कोई अलगसे सुख नहीं है। अलग सुख सेवककी परिच्छिन्नता, स्वार्थ और पृथक्ताका पोषक है। सेवकका जब तक अपने स्वामीसे तादात्म्य नहीं हो जायेगा, वेदान्त की भाषामें जबतक सेवकावच्छिन्न चैतन्य स्वामी अवच्छिन्न चेतनसे एक नहीं हो जायेगा, तब तक सेवा पूर्ण नहीं होगी। यह एकताका भाव स्थिति या सायुज्य नहीं है। सेवाकी पूर्णता अर्थात् राधाकृष्णकी एकता, आत्मा–परमात्माकी एकता। पूर्ण एकतामें द्वैत नितान्त बाधित हो जाता है, यही सेवा है और जीवनका लक्ष्य भी यही है।

●●●

आपके पास जन, धन, भवन आदिकोंकी संख्या कितनी है ? कहीं आप उनके अभिमानसे फूले–फूले तो नहीं फिरते हैं ? अपने सौन्दर्य–माधुर्य, शौर्य–औदार्य, विद्या–बुद्धि के सम्मुख दूसरों को दीन–हीन समझकर उनका तिरस्कार तो नहीं करते हैं? आपको पुण्यात्मापन का अभिमान है तो आप पापी का तिरस्कार कर बैठेंगे और आपका हृदय रूक्ष एवं कठोर हो जाएगा। फिर वह म्लान और ग्लान भी होगा। सुखरसके आस्वादन की योग्यता नहीं रहेगी। अभिमान पर चोट पड़ती है। अतः जीवनको सुखमय बनानेकी कुंजी है– उत्तम से उत्तम विषय, भोग, कर्म, वृत्ति, स्थिति और अनुभवका भी अभिमान मत कीजिये।

●●●

ध्यान दीजिये, आपके मनोराज्यकी दशा कौन–सी है ? वह अतीतकी ओर देख–देखकरके वर्तमानकी श्रेष्ठता या कनिष्ठता की तुलनात्मक समीक्षा करता है ? अजी, छोड़िये भी उसे। क्या रखा है उसमें? वह तो बिछुड़ गया, मर गया। तब क्या आप भविष्य में बहुत दूर–दूर की सोचने में इतने मग्न हो जाते हैं कि वर्तमानमें कहाँ पाँव पड़ रहे हैं, गिरते हैं कि ठोकर लगती है– इसपर ध्यान नहीं जाता ? महाशय! सम्भलकर चलिये। भविष्यका भय मत कीजिये। अपने साथ भूत मत लगाइए। पीछे घूमकर मत देखिये और दूरका देखनेमें मत लग जाइये। अपने मनोराज्यको अपनी ही पार्श्वभूमिमें रखिये। वह आपके जितना निकट होगा, आप उतने ही सुखी होंगे। ●●●

अनन्त श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
द्वारा विरचित
उपलब्ध साहित्य हेतु सम्पर्क–

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

स्वामी अखण्डानन्द पुस्तकालय,
आनन्द कुटीर, मोती झील, वृन्दावन–281121
जिला मथुरा (उ.प्र.), मो.– 09837219460

प्रवचन–सीडी,डीवीडी

अनन्त श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
द्वारा प्रवचनों की सीडी, डीवीडी हेतु सम्पर्क–

आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर

आनन्द वृन्दावन, मोती झील
वृन्दावन– 281121, जिला– मथुरा (उ.प्र.)
फोन–0565–3292119
email-c.anandvrindavan@gmail.com
website-www.pujyamaharajshri.org